रेवती रमण होने का अर्थ

सम्पादन

सतीश कुमार राय

अशोक गुप्त

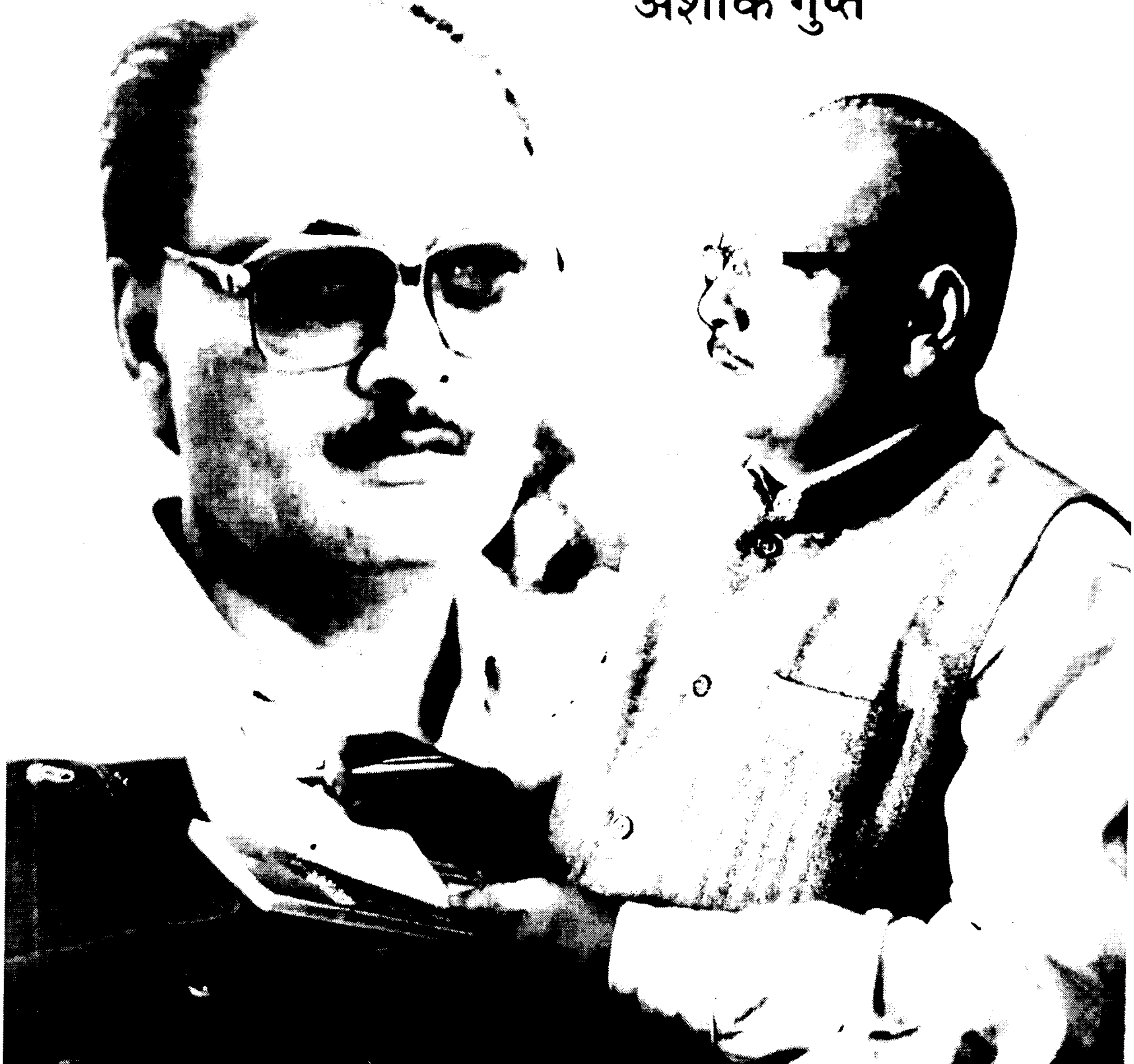

रेवती रमण होने का अर्थ

सम्पादक
सतीश कुमार राय
अशोक गुप्त

अभिधा प्रकाशन

प्रथम संस्करण
2020
सर्वाधिकार
सम्पादक

प्रकाशक
अभिधा प्रकाशन
रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002

अक्षर-संयोजन
एस. कुमार

मुद्रक
बी० के० ऑफसेट, दिल्ली - 32

मूल्य
225/- (दो सौ पच्चीस रुपये)

Rewati Raman Honey Ka Arth

Edited By **Dr. S.K. Rai & A. Gupta** **Rs. 225.00**

अनुक्रम

सम्पादकीय		: सतीश कुमार राय	7
प्रस्तुति		: अशोक गुप्त	21
1.	साथ चलते हुए	: विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	23
2.	हिन्दी साहित्य के चर्चित आलोचक...	: रिपुसूदन श्रीवास्तव	26
3.	आलोचना का कालयात्री	: मदन कश्यप	32
4.	रेवती रमण की आलोचकीय सक्रियता	: रामप्रवेश सिंह	36
5.	डॉ. रेवती रमण की आलोचना-दृष्टि	: विजयशंकर मिश्र	42
6.	साक्षात्कार	: राकेश रंजन	46
7.	साक्षात्कार	: कल्याण कुमार झा	57
8.	समय की रंगत	: अंजना वर्मा	66
9.	एक आलोचक का कवि	: पूनम सिंह	71
10.	अजनबियों के संग चल रहा थका अकेला	: राकेश रंजन	77
11.	कविता और मानवीय संवेदना	: जगदीश विकल	84
12.	युवा समीक्षक का प्रबुद्ध समीक्षात्मक विवेक?	: वेदप्रकाश अमिताभ	90
13.	समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य	: कृष्णचन्द्र लाल	94
14.	समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य...	: रवीन्द्र उपाध्याय	99
15.	रचना की तरह आलोचना	: रमेश ऋतंभर	103
16.	रेवतीरमण का 'समकाल'	: प्रेमशंकर रघुवंशी	105
17.	'कविता में समकाल' एक समीक्षा कृति	: श्रीराम परिहार	108
18.	संघर्ष तपी काव्य-साधना का संधान	: शेखर शंकर मिश्र	115
19.	जातीय संवेदना के सजग साहित्य चिन्तक	: संध्या पाण्डेय	121
20.	जातीय मनोभूमि की तलाश	: अनन्तकीर्ति तिवारी	125
21.	सहज-सरल, स्वाभिमान की आवाज	: सुशांत कुमार	130
22.	'आवाज के परिन्दे' और उनके सलीम अली	: अनामिका	134
23.	समकालीन कविता की पुख्ता पहचान	: रामेश्वर द्विवेदी	141
24.	कवियों की गली से गुजरता कवि आलोचक	: उज्ज्वल आलोक	147
25.	पुस्तकों के फ्लैप से		153
चिट्ठी-पत्री			155
चित्रावली			191

'रचना की श्रेष्ठता से ही आलोचना भी श्रेष्टता प्राप्त करती है'

(प्रो. रेवतीरमण से कल्याण कुमार झा की बातचीत)

रेवतीरमण को जिन लोगों ने निकट से देखा और समझा है, उनमें से एक डॉ० कल्याण कुमार झा भी हैं। डॉ० झा ने पत्रकारिता से अपना कैरियर प्रारंभ किया था और बाद में रेवतीजी के सहकर्मी बने। देश, समाज, शिक्षा, साहित्य और संस्कृति पर पैनी दृष्टि रखने वाले डॉ० झा ने अनेक मुद्दों पर रेवतीजी से प्रश्न किए हैं। डॉ० रेवती ने उन प्रश्नों के सटीक उत्तर से अपनी गहरी मेधा और व्यापक दृष्टि का साक्ष्य दिया है। प्रस्तुत है इस साक्षात्कार का संक्षिप्त अंश–

आप एक साथ हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्यापक, रचनाकार और आलोचक हैं। इनमें से आपके किस रूप को प्राथमिक माना जाय?

मैंने कभी सोचा नहीं था कि इस तरह से कोई पूछेगा। वस्तुतः मैं एक अध्यापक ही हूँ। अध्यापक न होता तो क्या होता? कविता-कहानी अमूमन समकालीन समझे जाने वाले रचनाकारों की रचनाओं के प्रभाव में ही लिखी गईं। खरबूजे को देखकर जैसे खरबूजा रंग बदलता है। शुरू-शुरू में संगति की इच्छा प्रबल थी। किन्तु जाने-माने लोग सटने ही नहीं देते थे। हिन्दी में एम.ए. की पढ़ाई कर रहा था, तभी ज्ञानेन्द्रपति को देखा। वे युवा निराला जैसे थे। उनके साथ कॉलेज कैम्पस में दस-बीस लोग होते थे। मेरा उनसे परिचय नहीं था। मैं उन्हें दूर से ही मुग्ध भाव से देखता था। ठीक वैसे ही जैसे आचार्य होने के पहले रामचन्द्र शुक्ल ने केदारनाथ पाठक के साथ 'प्रेमघन' जी को देखा था।

सच तो यह है कि साहित्य का हर अध्यापक आलोचक होता है। पढ़ाने के लिए उसे पढ़ना पड़ता है। बड़े आलोचकों की राय भी उसे जाननी पड़ती है तो एक पाठ से जुड़ी हुई आलोचना-प्रक्रिया से सबको गुजरना पड़ता है। पढ़ते-पढ़ाते अध्यापक कुछ अपनी ओर से टीका-टिप्पणी कर ही देता है। मेरी समीक्षाओं को इसी भाव से देखना चाहिए। बड़े-बड़े आलोचकों के सूत्र-वाक्यों की व्याख्या भी वह हो सकती है। मैंने नामवर जी से भी यह कहा था। अपने विरोध को लेकर वह थोड़े परेशान दिखे थे। मैंने उनसे कहा था कि हमलोग

आपके विचारों के प्रचारक-मात्र हैं। बाद में डॉ० राजेन्द्र कुमार यहाँ आए थे तो यही कहा था— हिन्दी के नये आलोचक छोटे-छोटे रामविलास शर्मा या नामवर सिंह हैं। उनकी अपनी कोई पहचान नहीं। मुझे भी उन्हीं में से एक समझिए। एक आलोचक के रूप में मेरी चर्चा हो, यह इच्छा या महत्त्वाकांक्षा मेरी कभी रही नहीं।

हिन्दी के अध्यापक के रूप में साहित्येतिहास, आलोचना और अनुसंधान के प्रचलित स्वरूप से क्या आप संतुष्ट हैं?

हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन पर्याप्त से अधिक हुआ है। मोटे-मोटे ग्रंथ हैं। कुछ के तो कई-कई भाग है। 'मिश्रबन्धु विनोद' है 'वृहत् इतिहास' भी। किन्तु संतोषप्रद कुछ खास नहीं। इस दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ. नन्दकिशोर नवल के ग्रन्थों का महत्त्व असंदिग्ध है। किन्तु वे लोग भी अपने काम से संतुष्ट नहीं रहे। बात यह है कि हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन के लिए पर्याप्त समय चाहिए, वस्तुनिष्ठ दृष्टि और अपार धैर्य की अपेक्षा है। अहं और वैयक्तिक आग्रह-पूर्वग्रह से बात बिगड़ जाती है। आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सर्वोपरि मान्य है। किन्तु उन्होंने भी हिन्दी के आरंभिक कहानीकारों में अपना भी उल्लेख किया है। उनकी चर्चा से एतराज नहीं किन्तु यह कार्य कोई और करता तो बेहतर होता। इस दृष्टि से पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदर्श हैं। किन्तु वह एक बड़े उपन्यासकार थे या ललित निबंध लेखक, इस पर विमर्श होता रहता है।

हिन्दी में अनुसंधान कार्य का एक समृद्ध इतिहास है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की इस कार्य में बड़ी भूमिका है। हमारे यहाँ भी श्रेष्ठ अनुसंधान हुए हैं। उन अनुसंधानों के आलोक में समय-समय पर साहित्येतिहास लेखन होना चाहिए था, हुआ नहीं। इतिहास में प्रकाशन-वर्ष और तिथि-क्रम का महत्त्व होता है, साहित्येतिहास में भी। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में साहित्येतिहास प्रायः इतिवृत्त-संग्रह होकर रह जाते हैं।

क्या आप हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता समझते हैं? नये इतिहास का क्या ढाँचा होगा?

हिन्दी में रचना-उत्पादन की तीव्र गति को देखते हुए हर दस-बीस साल के बाद साहित्येतिहास-लेखन का कार्य अपेक्षित है। वस्तुतः यह एक संस्थानिक उपक्रम है। देश के विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागों का ही दायित्व है। साहित्येतिहास हो या आलोचना-अनुसंधान, उच्चतर कक्षाओं के लिए ही होते हैं। कविता-कहानी आदि के सामान्य पाठक की इनमें कम ही रुचि रहती है।

नये साहित्येतिहास लेखन का प्रारूप मिल-जुलकर बनाना चाहिए। हिन्दी, में एक दर्जन से अधिक साहित्य विधाओं में समृद्ध साहित्य रचना हुई है। हर विधा को लेकर प्रारूप बनाना चाहिए। सब विधाओं को एक ही साहित्येतिहास ग्रंथ में समेट लेना संप्रति संभव नहीं है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य, इन दिनों विद्यार्थियों में विशेष रुचि का विषय है। इसलिए भी कि अपभ्रंश से लेकर ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि भाषाओं का उनका ज्ञान कम होता है या नगण्य होता है; किन्तु इसके साथ यह समस्या भी है कि श्रेष्ठ आधुनिक कविताएँ अधिक दुरूह है। उनका पारंपरिक काव्यशास्त्र, रस सिद्धांत अथवा रीति, गुण-दोष, अलंकार आदि की दृष्टि से अध यापन कठिन है। भाष्य और टीका के सहारे आदि से मध्यकाल तक का काव्य आसानी से समझ में आ जाता है। किन्तु यही बात हम आधुनिक या उत्तर आधुनिक कविताओं के संदर्भ में नहीं कह सकते हैं। आप क्या सोचते हैं?

आधुनिक साहित्य में विद्यार्थियों की विशेष रुचि बेवजह नहीं है। उन्हें खड़ी बोली का साहित्य कुछ-कुछ समझ में आता है। जहाँ अपभ्रंश-प्राकृत के रस लेकर पढ़ाने वाले शिक्षक हैं, वहाँ इक्के-दुक्के निकल आते हैं। यह भिन्न बात है। निराला ने अपने एक पत्र में जानकीवल्लभ जी को लिखा था—'अन्ततः धैर्य और अध्ययन ही कारगर होता है।' अध्यापन एक बड़ी चुनौती है। आपको हर साँस से सजग होना पड़ता है। सच्ची बात तो यह है कि हमारा प्राचीन साहित्य सर्वगुण संपन्न है। डॉ. नामवर सिंह की किताब 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' या 'पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य', डॉ. धर्मवीर भारती का प्रबंध 'सिद्ध साहित्य', डॉ. द्विजराम यादव का 'सिद्ध सरहपा' और भी अनेक ग्रंथ उदाहरण हैं। जो प्राचीन के पास जाएगा उसे ही आधुनिक प्रवृत्तियों को परखने में सुविधा होगी। बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक तक हिन्दी समाज में यह धारणा थी कि संस्कृत जानने वाला ही पंडित हो सकता है। पंडित का अर्थ है 'समदर्शी' होना अपने समान सबको देखना। रटन्त विद्या का महारथी नहीं। 'अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्' प्रसिद्ध है। आज के विद्यार्थियों की समस्या दूसरी है। वे जल्दी में हैं। नवीन प्रौद्योगिकी के सहयोग से जो व्यवस्था-संरचना बनी है उसने ही 'शार्टकट' अपनाने की प्रवृत्ति पैदा की है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में डॉ. नामवर सिंह के बाद एक विराट शून्य का अनुभव होता है। कहा जा रहा है कि आलोचना तो फिर भी छिटपुट लिखी जा रही है किन्तु कोई व्यक्तित्व सम्पन्न आलोचक नहीं है। आलोचक से पूछो तो कहेगा कि मैंने ऐसे ही दौड़ते भागते अफरा-तफरी में कुछ लिख दिया है। आज के परिदृश्य में कोई आचार्य रामचन्द्र शुक्ल या डॉ. रामविलास शर्मा जैसा बड़े कद

का आलोचक नहीं मिलता। आपको क्या लगता है?

डॉ. नामवर सिंह के जीवनकाल में ही 'आलोचना के भँवर' में होने की चर्चा होने लगी थी। कालान्तर में उन्होंने लिखना कम कर दिया। आलोचना को मंच मिला तो वह वाचिक हो गयी। देश में लोकतांत्रिक चेतना के प्रचार-प्रसार के साथ यह हुआ। समाज में 'कबीर' अधिक प्रासंगिक हो गए। कबीर ने हाथ से कुछ नहीं लिखा। आलोचना गोस्वामी तुलसीदास ने भी कम नहीं की है। किन्तु आश्चर्य है! गोस्वामी जी को हम याद करते हैं, प्रबंधन के लिए याद करते हैं, मर्यादा और महास्वप्न के लिए याद करते हैं। कबीर का भी स्वप्न लोक है, बेगमपुरा है किन्तु हम प्रायः विखण्डन के संदर्भ में ही उन्हें याद करते हैं।

मान्यता है कि रचना की श्रेष्ठता से ही आलोचना भी श्रेष्ठता प्राप्त करती है। आधार या आलंबन तो सर्जनात्मक लेखन ही होगा। इसलिए नये आलोचकों का ही सब दोष नहीं है।

आजकल तो लेख, टिप्पणियाँ, समीक्षाएँ, आलोचना के रूप में लिखी जा रही हैं वे ज्यादातर अन्तर्वस्तु निर्भर है। उसमें आलोचक की दृष्टि प्रायः क्या कहा गया है से ही उलझकर रह जाती है। जो कथित तौर पर मुख्य धारा का साहित्य है और जो आलोचना के संरक्षण में ही पहचानी जाती है उसमें ज्यादा विचारधारा की ही बात होती है। मेरा मानना है कि विचारधारा के आलोक में रचना का मूल्यांकन न करके रचना के आलोक में विचारधारा को पहचानने का प्रयास होना चाहिए। इस संबंध में आपकी क्या राय है?

संप्रति, अन्तर्वस्तु-निर्भर आलोचना का जोर है। यह अधूरी आलोचना है। कथ्य से जरा भी कम महत्त्व शिल्प का नहीं होता। श्रेष्ठ साहित्य व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। व्यक्ति अपने कर्मयोग से व्यक्तित्व में रूपान्तरित हो जाता है। सतत् संघर्ष से हमारे अन्तःकरण का आयतन विस्तीर्ण होता जाता है। तब आत्मसंभवा अभिव्यक्ति अनिवार्य नहीं रह जाती। संवेदनात्मक ज्ञान हो या ज्ञानात्मक संवेदना दोनों अपेक्षित है। यह एक तरह से कारयित्री और भावयित्री का फर्क है। प्रतिभा सबमें होती है और प्रतिभा का कोई जवाब नहीं होता है। किन्तु प्रतिभा को सींचना पड़ता है, व्युत्पत्ति और अभ्यास से। तो जो व्यक्ति आलोचक होता है, उसे भी रचना के प्रति पूर्ण समर्पण करना पड़ता है। जहाँ अपूर्णता लक्षित होती है, समझना चाहिए कि उसमें आस्था कम है, उसने पूरा समर्पण नहीं किया है। स्वयं को अन्दर-बाहर से देना पड़ता है। अज्ञेय की कविता है—'भीतर जागा दाता।'

आज की आलोचना दौड़ते-भागते लिखी जा रही है। कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें हिन्दी की जातीय परंपरा का ज्ञान ही नहीं है। अंग्रेजी से आने वालों में

कम ऐसे हैं जो औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त हों। एक और भी समस्या है। ज्यादा संरचना-शिल्प पर आप ध्यान देंगे तो आपको रूपवादी सरंचनावादी समझ लिया जाएगा। ज्यादा अलंकार, गुण-दोष की बात करेंगे तो आपकी आलोचना को प्राध्यापकीय आलोचना घोषित कर दिया जाएगा।

इक्कीसवीं सदी के लगभग दो दशक पूरा होने पर हिन्दी साहित्य में क्या परिवर्तन लक्षित होता है?

इक्कीसवीं शताब्दी के आविर्भाव के साथ पूरी दुनिया में विखंडन की आँधी चल पड़ी। बल्कि, एक दशक पहले ही शीतयुद्ध के अन्त के साथ यूटोपिया के भी अन्त की चर्चा जोर पकड़ने लगी। कविता का अंत, महाआख्यान का अन्त, कहानी और उपन्यास का अन्त आदि की घोषणा की जाने लगी। इसका कुछ प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा है। इस दौर में खासतौर से स्त्री-वादी विमर्श, दलितवादी विमर्श हुए हैं। इधर वनवासियों पर भी बहुत कुछ लिखा जाने लगा है। इस नवोन्मेष का दबाव समकालीन समझे जाने वाले रचनाकारों पर भी पड़ा है। इसके कुछ अन्तर्विरोध भी हैं। यह सारा का सारा अनुभूतिवाद के तर्क से प्रेरित है। यानी जो पीड़ित है, वही लिखेगा। जब कि परंपरागत प्रगतिशीलता या आधुनिकता ने 'संवेदना' को महत्त्व दिया था। साहित्यकार एक संवेदनशील मनुष्य होता है। उसके पास अपने समय की व्यथा को वाणी देने की क्षमता होती है तो अपनी संवेदनशीलता के बल पर वह पशु-पक्षियों समेत अन्य सब जीवों की वेदना को रचना में रूपान्तरित कर सकता है। किन्तु आज के दौर में यह प्रचारित किया जा रहा है कि स्त्री की वेदना एक स्त्री ही समझ सकती है। दलित की वेदना एक दलित ही समझ सकता है। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। 'लोहे का स्वाद लोहार से मत पूछो/ पूछो उस घोड़े से जिसके मुँह में लगाम है'—यह धूमिल की कविता है। दलित विमर्शकार इसका प्रचार करते पाये जाते हैं। किन्तु धूमिल के आत्मीय डॉ. काशीनाथ सिंह ने इसका विरोध किया है। उनका कहना है कि घोड़ा क्या कहेगा? सिर्फ हिनहिनाएगा।

जैसे मनुष्यता सब कहीं है और सब कहीं एक है वैसे ही वेदना सब कहीं है और सब कहीं एक है। याद कीजिए निराला को—

मैंने 'मैं' शैली अपनायी/ देखा एक दुःखी निज भाई।
दुःख की छाया पड़ी हृदय में मेरे/ झट उमड़ वेदना आयी।
यही सच है। आज संकटग्रस्त मनुष्यता ही है।

विघटनकारी विध्वंस की दिशा में ले जाना चाहते हैं। अभी बड़ी मात्रा में जो उत्पादन हो रहा है वह निर्माण नहीं है, सृजन नहीं है।

हिन्दी गद्य-पद्य की तमाम विधाओं में विशुद्धतावाद बेदखल है। हम

देख रहे हैं कि कविता में कहानी, कहानी में आलोचना हो रही है। इस समय हिन्दी गद्य-साहित्य की गौण या लघु कही जाने वाली विधाओं में कुछ उल्लेखनीय प्रयोग हुए हैं आप चाहे तो इस पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं?

प्रयागशुक्ल की एक कविता-पंक्ति है 'दृश्य सुन्दर था / पर देखने के लिए समय नहीं था।' यह सच है समयाभाव। आज प्रकाशन तंत्र सहज सुलभ है। पुरस्कार-सम्मान की संख्या भी कम नहीं है तो संस्कृति के बाजार में अपने को बेचने की आतुरता बढ़ी है। तथापि शत-प्रतिशत नैराश्य का परिदृश्य नहीं है। कवियों-कलाकारों के स्वरूप में बदलाव आया है। पहले भी सब कालिदास नहीं होते थे, भवभूति नहीं होते थे। असंख्य रचनाकार अकाल विस्मृति के गर्भ में चले गए। आप कितना दे सकते हैं और देना चाहते हैं। इसके लिए कितने मनोयोग से आपने संग्रह किया है? टिकना इस पर ही निर्भर है।

इस 'अकाल वेला में' यह सुखद है कि हिन्दी गद्य की गौण या लघु समझी जानेवाली विधाओं में उल्लेखनीय प्रयोग हुए हैं। आप आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का संस्मरणात्मक गद्य पढ़कर अभिभूत हो सकते हैं। निर्मल वर्मा और डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के यात्रा-वृत्त, डायरी आदि पढ़ सकते हैं। 'आत्म की धरती', 'अन्तहीन आकाश' (संस्मरण), 'अस्ति और भवति' (आत्मकथा) और 'दिन रैन' (डायरी) विश्वनाथ जी की ऐसी गद्य कृतियाँ हैं जो रोचक हैं तो ज्ञानवर्द्धक भी। सार्थक गद्य साहित्य की हर पंक्ति एक खबर है।

आप किस रचनाकार अथवा किन रचनाकारों को बार-बार पढ़ना पसंद करते हैं?

ऐसे लेखक-रचनाकार बड़ी संख्या में हैं। तुलसीदास जी से लेकर मदन कश्यप तक। कवयित्रियों में अनामिका की पुस्तकें पुनः-पुनः पठनीय हैं। किन्तु इन दिनों मैं 'गोरख-वाणी' पढ़ रहा हूँ और हाँ, 'दिव्य प्रबंधम्' भी। मेरी स्मरण-शक्ति कमजोर है इसलिए एक ही रचना को मुझे बार-बार पढ़ना पड़ता है। वैसे, आप जानते हैं कि एक आस्थावान व्यक्ति जीवनभर 'गीता' पढ़ता रहता है, 'रामचरित मानस' पढ़ता रहता है। इसलिए पाठ्य-सामग्री मेरे पास प्रचुर है।

हिन्दी साहित्येतिहास की उपलब्धियों एवं समस्याओं पर कुछ और कहिए-

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की जो समृद्ध परंपरा रही है उस पर महत्वपूर्ण आलोचकों ने प्रकाश डाला है। ग्रियर्सन, मिश्रबंधु, शिव सिंह सेंगर, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामस्वरूप चतुर्वेदी और डा० बच्चन सिंह

की पुस्तकें हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में उल्लेखनीय हैं। प्रायः सभी ग्रंथों की कुछ विशेषताएँ हैं; किन्तु अधिकतर उन्हें आलोचना का ही विषय बनाया गया है। न व्यवस्थित रूप से काल-विभाजन हुआ है न नामकरण ही सर्वमान्य हुआ है। संक्षेप में अब तक प्रख्यात और प्रचलित हिन्दी के साहित्येतिहास ग्रंथ व्यवस्थित और सुनियोजित इतिहास-लेखन के उदाहरण नहीं माने जा सकते हैं। विभिन्न इतिहास-दृष्टियों मसलन विधेयवादी, सबाल्टर्नवादी, मार्क्सवादी और विशुद्ध साहित्यवादी विमर्शों का दावा करने वाले भी इन पद्धतियों का प्रायः यादृच्छिक इस्तेमाल ही कर पाये। अँग्रेजी में या बांग्ला में जो साहित्येतिहास लेखन हुए हैं वे अमूमन रचनाकाल और युग को ही संक्षेप में विभावन व्यापार का विषय बनाते हैं। हम यह नहीं कहते कि आचार्य शुक्ल अथवा हजारी प्रसाद द्विवेदी में इतिहास-लेखन की क्षमता नहीं थी। हिन्दी के ये आचार्य साहित्येतिहास लेखक की योग्यता रखते थे। वे बहुत अच्छे अनुवादक थे। उन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। आलोचना दृष्टि के साथ-साथ उनकी अनुसंधान वृत्ति भी सराहनीय है। विशेषतः आदिकाल और मध्यकाल के साहित्य को पाठालोचन के स्तर से उन्होंने जो प्रस्तुति दी, आज भी उसी के आलोक में अध्ययन, अध्यापन होता है, किन्तु शुक्ल जी के इतिहास ग्रंथ में मुख्यधारा के नियमन के अनुपात में फुटकर कवियों की संख्या बड़ी है। मुख्यधारा के भीतर आधुनिक काल में छायावाद के संदर्भ में वह व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सके। यही बात हम रामस्वरूप चतुर्वेदी और बच्चन सिंह के साहित्येतिहासों के बारे में कह सकते हैं। आलोचना के लिए आलोचना करना सरल है। रही व्यवस्थित और सुनियोजित इतिहास लेखन की बात तो ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में वहाँ के उच्चतर शिक्षा संस्थान वह कार्य करते रहे और हर दशक के बाद वो उसमें कुछ संशोधन करते हैं और जोड़ते भी हैं। साहित्येतिहास पर व्यापक विमर्श किया जा सकता है। किन्तु व्यावहारिक बात यह है कि उच्चतर शिक्षा संस्थान को ही इसकी आवश्यकता रहती है, तो भाषा एवं साहित्य का उच्चतर कक्षाओं में अध्यापन करने वाले शिक्षकों का ही मुख्य रूप से यह दायित्व है कि वे मिलजुल कर इतिहास लेखन की दिशा में अग्रसर हों। आज का विपुल हिन्दी साहित्य जो अनेक विधाओं में उपलब्ध है उसका गंभीर अध्ययन करना और प्रवृत्तियों को पहचानते हुए उन्हें समग्रता में मूल्यांकन करना बड़े से बड़े विद्वान के लिए भी संभव नहीं है। इस तरह का एक प्रयोग डॉ. नगेन्द्र ने किया था। लेकिन वह अत्यंत अपर्याप्त है। मेरा प्रस्ताव यह है कि सबसे पहले यह निर्णय किया जाए कि विभिन्न कालखण्डों की समय-सीमा क्या होगी। मध्यकाल को लेकर तो बहुत विवाद नहीं है किन्तु किसी भी साहित्येतिहासकार ने हिन्दी के

आदिकालीन साहित्य को समग्रता में उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस तरह से विवेचन-विश्लेषण का विषय नहीं बनाया है कि उसका विकास-क्रम स्पष्ट हो जाए। आदिकालीन हिन्दी साहित्य का इतिहास नाम से एक बड़ा प्रोजेक्ट बनाने की जरूरत है। उसके लिए भी दर्जनभर विशेषज्ञों की आवश्यकता है। पहले जिन विद्वानों ने इस पर आधिकारिक रूप से विचार किया है उनके समक्ष आधार सामग्री नगण्य या अत्यल्प थी। सम्प्रति बड़ी मात्रा में विभिन्न प्रवृत्तियों को लेकर मुक्तक और प्रबंध उपलब्ध है, तो उन सबको ध्यान में रखकर प्रवृत्तियों का निर्धारण संभव है। इसमें विद्यापति का साहित्य अंतिम अध्याय की तरह आ सकता है। उन्हीं से मध्यकालीन अथवा भक्तिकालीन साहित्य पर विचार का प्रारंभ किया जा सकता है। भक्ति और शृंगार मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रमुख रस है। अपवादस्वरूप वीर रस की कविताएँ भी लिखी गई हैं। वीरगाथा के प्रसंग आदिकाल में आते हैं तो उन्हें प्रेरक और उपजीव्य के रूप में पृष्ठभूमि-प्रकाश के लिए ग्रहण किया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास लेखन विभिन्न कालखण्डों को अलग-अलग लेकर ही व्यावहारिक होगा। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को भक्ति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में न्याय संगत विमर्श का विषय बनाया जा सकता है। भक्ति काव्य की चार धाराएँ प्रसिद्ध हैं। उन चारों को लेकर विशेषज्ञों से अलग-अलग लिखवाया जा सकता है। इसके अंतर्गत एक पाँचवाँ संदर्भ भी बन सकता है। दलित और स्त्री कवियों के साहित्य को मध्यकाल के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी स्वतंत्र स्थान देना अनुचित नहीं होगा। आप जानते हैं कि मीराँ को लेकर पहले के साहित्य-इतिहासकार कई बार अनिर्णय की स्थिति में होते हैं। उन्हें कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा में रखा जाए अथवा ज्ञानाश्रयी काव्य परंपरा में। मीराँ से संबद्ध आलोचनात्मक ग्रंथों अथवा शोध-ग्रंथों से विशेष आलोक नहीं मिलता। हमें उन परिस्थितियों को बेनकाब करना होगा जिनके अंतर्गत मीराँ को रैदास की शिष्या बनना पड़ा। एक सवाल यह भी है कि जिसे हम भक्ति साहित्य के रूप में जानते हैं, उसका कितना अंश हिन्दू मान्यताओं के भीतर लिखा गया है। सूफियों का ऐतिहासिक आधार अत्यंत विवादास्पद है, उन्हें अधिक से अधिक हम इतिहास में कल्पना के प्रवेश का उदाहरण ही कहेंगे। कृष्ण भक्तिकाव्य के रचयिता बड़ी संख्या में मुसलमान हुए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था 'इन मुसलमान हरिजन न पर कोटिक हिन्दू वारिये' तो केवल 'सूर-सूर तुलसी शशि' पर ही भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य का इतिहास कैसे लिखा जा सकता है। कालान्तर में मध्यकालीन चारों काव्यधाराएँ पतनोन्मुख हो गई तो इसकी भी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक वजहें हो सकती हैं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का जो नया इतिहास लिखा

जायेगा उसमें यह भी विचारणीय होगा कि विभिन्न जनपदों में प्रचलित काव्य भाषाएँ कैसे आत्मविस्तार के प्रयास में लगी हुई हैं। यह वस्तुतः लोकजागरण का परिदृश्य है। इसमें सूरदास 'सूरसागर' ब्रजभाषा में लिखते हैं और 'साहित्य लहरी' अवधी में। तुलसीदास 'रामचरित मानस' अवधी में लिखते हैं और 'विनय पत्रिका' ब्रजभाषा में। एक से अधिक भाषाओं में लिखने के कारण उस युग के कवियों की जनपदीय चेतना भी विकसित हो रही थी। रीतिकाल को श्रृंगार काल कहने की अनुमति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दी। किन्तु इसके काल-निर्धारण में उनकी सफलता पर सवाल खड़े किये जा रहे हैं। भक्तिकाव्य की विशेषता यह है कि भक्ति हो या श्रृंगार दोनों का स्थायी भाव रति है। दूसरे शब्दों में जब से भक्ति साहित्य की रचना प्रारंभ हुई तब से श्रृंगार की भी अभिव्यक्ति होती रही। बल्कि श्रृंगार रस तो वीरगाथा काव्य में भी पर्याप्त है। यहाँ हम डॉ० रामविलास शर्मा से कुछ प्रेरणा ले सकते हैं। रीतिकाल नाम ठीक नहीं है। व्यापक प्रचलन के बावजूद। शुक्ल जी की दृष्टि में उत्तर मध्यकालीन साहित्य श्रृंगार रस प्रधान है। लेकिन उस दौर में आचार्य कवियों की उपस्थिति उदाहरण है कि जनता की चित्तवृत्तियाँ किस प्रकार से काव्यमय हो रही थी। रीतिकालीन काव्य जीवन के काम में आने वाली कविता है जिसे डॉ. नगेन्द्र से अधिक राष्ट्रकवि दिनकर ने समझने में सफलता पायी है। साहित्येतिहास लेखन एक बड़े और नैतिक कर्त्तव्य की तरह है। इसके लेखन में लेखक को आत्मनिरपेक्ष और तटस्थ होकर काम करना होगा। इतिहास लेखन आलोचनात्मक विवेक के अभाव में केवल एक इतिवृत्त संग्रह ही हो सकता है। हिन्दी साहित्य इतिहास के पुनर्लेखन की बात हमारे समय की माँग है। आधुनिकता को लेकर कई तरह के विचार हैं। जिस आधुनिकता को हमारी अवधारणा में जगह प्राप्त है कतिपय मतभेदों के बावजूद वह कुल मिलाकर पाश्चात्य प्रभावापन्न है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का जो तीसरा और कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण भाग होगा वह है आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास। यह बहुत बड़ा काम होगा। इसके लिए हमें अवधारणाओं के संकट से जूझना होगा। क्योंकि आप जानते हैं कि हिन्दी के मध्यकाल तक का साहित्य प्रमुख रूप से पद्यात्मक है जबकि आधुनिक साहित्य अधिकांश में गद्यात्मक है। बल्कि पद्य भी तीन चौथाई गद्यात्मक ही है।.

........अपूर्ण ☐